

**रूसी हस्तक्षेपवाद पर प्रतिक्रियाएँ
हंगरी, 1956 और क्रीमिया, 2014 से उठे प्रश्न और भारत**

**Responses to Russian Interventionism:
India and the Questions of Hungary, 1956 and Crimea, 2014**

स्वप्ना कोना नायडु
Swapna Kona Nayudu
January 12, 2015

सन् 1953 में स्टालिन की मृत्यु के बाद भारत में रूसी हितों की वृद्धि होती रही है। सन् 1955 में ही ख्रुश्चेव और बुल्गानिन ने तीसरी वैश्विक नीति की शुरुआत की जिसके कारण ये दोनों नेता भारत आए और नेहरू भी मास्को पहुँचे। इसी वर्ष में एशियाई और अफ्रीकी देशों का इंडोनेशिया में बांडुंग सम्मेलन हुआ, जिसे रूसी समाचार पत्रों ने “इस युग की एक विशेष घटना” बताया। भारतीय पक्ष इस बात को लेकर बहुत उत्साहित था कि स्टालिन के उत्तराधिकारियों ने उसके “भारत के धूमिल चित्र” को नकार दिया है। शीत युद्ध के दौरान, इन संबंधों में गिरावट आने के बजाय निरंतरता ही बनी रही। तीन बार संकट के दौर आए- 1956 की हंगरी क्रांति, 1968 का प्राग स्प्रिंग (वसंत) और 1979 में अफगानिस्तान पर रूसी कब्ज़ा, लेकिन भारत ने इन तीनों ही मौकों पर रूस की विदेश नीति की भर्त्सना नहीं की।

रूस ने भी संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद में खास तौर पर कश्मीर विवाद और भारत की परमाणु संबंधी महत्वाकांक्षाओं को लेकर भारत का पूरा समर्थन किया। पिछले पाँच वर्षों में दोनों देश ब्रिक्स समूह के भागीदार के रूप में और भी नज़दीक आ गये। पिछले साठ वर्षों में दोनों देशों के संबंध जिस तरह से बढ़ते रहे हैं, उससे तो यही लगता है कि उनकी विदेश नीति भी पूरी तरह से एक-दूसरे की पूरक है। यदि हम 1956 के हंगरी संकट और 2014 के क्रीमिया संकट की तुलना करें तो हस्तक्षेप के प्रश्न पर कुछ रोशनी डाली जा सकती है और यह भी स्पष्ट हो सकता है कि भारत ने रूसी हस्तक्षेपवाद से उत्पन्न इन संकटों को लेकर कैसा रुख अपनाया है।

हंगरी क्रांति के दौरान नेहरू की गुटनिरपेक्षता की नीति को उस समय परीक्षा के दौर से गुज़रना पड़ा, जब भारत ने हंगरी और बुडापेस्ट पर रूसी कब्ज़े से जुड़े घटना चक्र पर अपनी प्रतिक्रिया देने में विलंब किया और अपने रुख को थोड़ा ढीला भी कर दिया। इस घटना चक्र के चलते बहुत देर तक नेहरू ने अमेरिका द्वारा की गई किसी भी पहल से अपने-आपको संबद्ध करने से इंकार कर दिया और आइज़नहावर को स्पष्ट शब्दों में कहना पड़ा कि नेहरू मास्को का समर्थन कर रहे हैं और रूस की सभी गलत बातों को भी सही साबित करने की कोशिश कर रहे हैं। सभी देशों की ओर से रूस की निंदा होने के कारण रूस के अलग-थलग पड़ जाने के डर से नेहरू लगातार बुल्गेनिन और टीटो से पत्र-व्यवहार करते रहे, क्योंकि इस मामले में इनकी राय को वे काफ़ी महत्वपूर्ण मानते थे। बुडापेस्ट का भारतीय कॉन्सुलेट विद्रोह को दबाने के लिए सोवियत सैनिकों द्वारा अलग-अलग और लगातार किये जा रहे प्रयासों की रिपोर्टें भेजता रहा। इन रिपोर्टों और खास तौर पर जे.बी. कृपलानी और जे.पी. नारायण जैसे भारत के अग्रणी राजनेताओं के भारी घरेलू दबाव के कारण रूस के हस्तक्षेपवाद के संबंध में नेहरू की दोहरी चाल पर सवाल खड़े होने लगे।

जब अंततः नेहरू इस बात को लेकर आश्वस्त हुए कि हंगरी का विद्रोह मूलतः राष्ट्रीय स्वरूप का था और उसे फ़ासिस्ट तत्वों द्वारा नहीं छेड़ा गया था तो ही उन्होंने रूसी नेतृत्व की आलोचना की और भारत की ओर से राजनयिक प्रयासों की शुरुआत की गई। अंत में रूसी कार्रवाई के प्रति भारत का

विरोध और आक्रोश क्रमशः बढ़ता ही चला गया और उसने संयुक्त राष्ट्रसंघ से हस्तक्षेप की माँग करते हुए महासचिव के पर्यवेक्षण में चिकित्सा दल और अन्य सामग्री भेजने का आग्रह भी किया, लेकिन अमरीका के नेतृत्व में पश्चिमी देशों द्वारा की गई माँग के अनुरूप रूस की निंदा नहीं की. नेहरू ने सिद्धांतों पर अडिग रहते हुए “दरवाजे खुले रखने” का गाँधीवादी तरीका अपनाया. वस्तुतः उन्होंने गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनाते हुए भारत को एक ऐसी विशिष्ट स्थिति में रखा ताकि विरोधी रुखों के बीच वह समझौता भी करा सके.

गुटनिरपेक्षता की नीति के स्पष्ट उल्लेख के बिना मोदी ने भी क्रीमिया को लेकर अपना विशिष्ट रुख अख्तियार कर लिया है. क्रीमिया पहले पूर्ववर्ती रूसीबहुल युक्रेन प्रांत का एक भाग था, जिसने सन् 2014 के आरंभ में युक्रेन से अलग होकर रूस में शामिल होने की इच्छा ज़ाहिर की थी. मोदी ने कहा कि भारत का यह प्रयास होगा कि “दोनों पक्ष मिल-बैठकर समस्याओं को निरंतर हल करें.” वस्तुतः मोदी ने “नसीहत देने के इच्छुक” उन देशों की ओर भी परोक्ष रूप में इशारा करते हुए कहा है कि “वे भी किसी न किसी रूप में इस प्रकार के अपराधों में लिप्त रहे हैं”. यह तुलना इसलिए भी उल्लेखनीय है कि पश्चिमी देशों द्वारा रूस की निंदा के प्रस्ताव का नेहरू ने इसलिए भी विरोध किया था क्योंकि उस समय ब्रिटेन और फ्रांस ने एक साथ मिलकर मिस्र पर हमला कर दिया था. इसी हमले को स्वेज़ नहर के संकट के रूप में जाना जाता है. इन दोनों ही मामलों में तब भी और अब क्रीमिया के मामले में भी भारत ने स्पष्ट कर दिया है कि किसी भी मामले में भारत का रुख उसके अपने मूल्यांकन पर ही निर्भर करता है और उसकी यह सोच पश्चिमी और अमरीकी सोच से भिन्न है.

दिसंबर, 2014 में जब वार्षिक शिखर वार्ता में भाग लेने के लिए व्लादीमीर पुतिन भारत आए थे तो मोदी के साथ वार्ता के दौरान उनके साथ क्रीमिया के अघोषित और कार्यकारी राष्ट्रपति सर्जई अकस्योनो भी अनधिकृत रूप में मौजूद थे, जिसके कारण वाशिंगटन डी.सी. द्वारा बहुत कठोर शब्दों में अत्यंत विवादास्पद बयान जारी किये गये थे. ऐसे उत्तेजक बयानों के संबंध में विदेश मंत्रालय के एक अधिकारी ने जहाँ एक ओर कहा था कि भारत और रूस “शीत युद्ध जैसी तनावपूर्ण स्थितियों” को समाप्त करने की आवश्यकता पर सहमत हो गए हैं, वहीं सरकारी समीक्षक ने कहा कि सार्वजनिक स्थल पर “हमारे किसी मित्र की भर्त्सना” नहीं की जानी चाहिए. फिर भी लगता है कि भारत की विदेश नीति के उन पहलुओं को बार-बार दोहराया जाता है, जिन्हें पचास के दशक में पहली बार गढ़ा गया था. उस समय कृष्ण मेनन और नेहरू के बीच विभिन्न अवसरों पर खास तौर पर जमाल अब्देल नासेर, निकोलाई बुल्गेनिन और चाऊ एन लाई जैसे भारत के मित्र नेताओं के संबंध में पत्राचार हुआ था. वस्तुतः संयुक्त राष्ट्र के सदस्य के नाते सार्वजनिक मंच पर अपनी बात रखने के बजाय नेहरू ऐसे विषयों पर अपनी असहमति निजी तौर पर ही प्रकट करते थे. इसका असर भी पड़ता था और इससे भारत के हितों को क्षति भी नहीं पहुँचती थी. इसी तरह से मोदी भी पूर्वी और दक्षिणी चीनी सागर में चीनी कार्रवाई को लेकर और क्रीमिया में रूसी कार्रवाई को लेकर सतर्कता से ही अपने बयान देते हैं ताकि इन देशों का उनके प्रति विश्वास भी बना रहे और साथ ही उन्हें यह चेतावनी भी मिल जाए कि अगर उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय कानून का पालन नहीं किया तो वे अलग-थलग पड़ जाएंगे.

हालाँकि पिछले कुछ वर्षों में भारत में राजनैतिक सत्ता बदलती रही है, लेकिन रूस को लेकर भारत की विदेश नीति लगभग समान ही रही है. विदेश नीति का यह स्थायी स्वरूप तब और भी स्पष्ट रूप में सामने आ जाता है जब हस्तक्षेप की बात आती है. यद्यपि भारत की आधिकारिक नीति हस्तक्षेप न करने की ही रही है, फिर भी रूस के साथ भारत का कोई प्रत्यक्ष विवाद नहीं हुआ. भारत सरकार की विदेश नीति में इसका स्पष्ट अपवाद है सन् 1971 में बंगला देश की स्थापना. उस समय भी रूस ने भारत के रुख का समर्थन किया था. और इसी रूसी समर्थन के फलस्वरूप दोनों देशों के बीच मैत्री

और सहयोग की संधि हो गई. भारत और रूस के संबंध एक ऐसी असाधारण बुनियाद पर आधारित रहे हैं जिसमें परस्पर तालमेल हमेशा ही बना रहा है. विश्लेषकों के अनुसार इस तालमेल के अनेक पहलू हैं, विविध प्रकार के आर्थिक प्रोत्साहन, अंतरिक्ष के कार्यक्रमों में सहयोग का विस्तार, अणुशक्ति और सैन्य प्रौद्योगिकी. निश्चय ही सफल संबंधों के यही उपादान हैं, लेकिन ये उपादान राजनैतिक सोच के न तो मज़बूत आधार हैं और न हो सकते हैं.

पहले तो इन दो देशों के बुनियादी राजनैतिक विचारों को पागलपन की बात ही समझा जाता था, लेकिन सन् 1991 में सोवियत संघ के बिखराव और भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के बाद इसे कुछ हद तक स्वीकार किया जाने लगा. दोनों ही देशों के लिए ज़रूरी था कि वे अपने देश की जनता को आश्वस्त करते रहें कि उन्हें अस्पृश्य नहीं माना जाएगा. भारत के लिए तो सन् 1974 में और फिर 1998 में खास तौर पर परमाणु परीक्षण के दो दौर के बाद अलग-थलग पड़ जाने की स्थिति बन ही गई थी. इन स्थितियों के मद्देनज़र नई दिल्ली ने हस्तक्षेपवाद का मतलब बखूबी समझ लिया था कि अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी के प्रतिबंधों का क्या असर होता है. हालाँकि जब भी कभी रूस ने पड़ोसी देश की सीमा का अतिक्रमण किया है, उस पर कब्ज़ा किया है या उसके किसी भाग को हड़प लिया है तो भारत में भी अस्वीकृति के धूमिल स्वर उठे हैं, लेकिन भारत ने छोटे-मोटे विवादग्रस्त मुद्दे को उठाने के बजाय सारे परिदृश्य को समग्र रूप में देखने की कोशिश की है. आगामी वर्षों में आपसी संबंधों का आधार भी आतंकवाद, अलगाववाद और उभरती अर्थव्यवस्था जैसे मुद्दे ही रहेंगे और रूसी हस्तक्षेपवाद पर भारत की मौन प्रतिक्रिया ही सामने आएगी.

स्वप्ना कोना नायुड किंग्स कॉलेज, लंदन के युद्ध अध्ययन विभाग में डॉक्टरेट की प्रत्याशी हैं.

हिंदी अनुवाद: विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा), रेल मंत्रालय, भारत सरकार
<malhotravk@gmail.com> / मोबाइल : 91+9910029919.